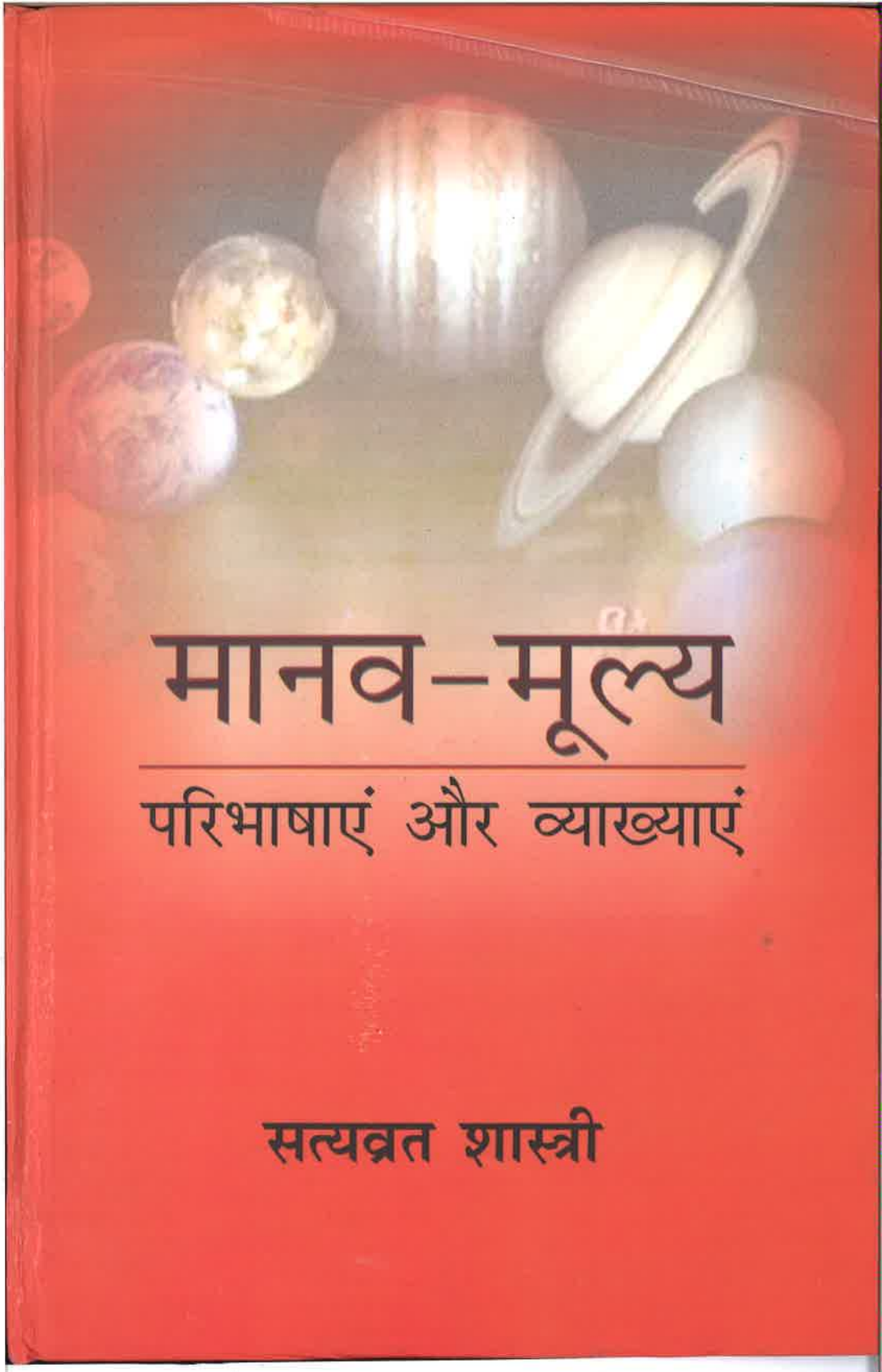

मानव-मूल्य

परिभाषाएं और व्याख्याएं

सत्यव्रत शास्त्री

भूमिका

संकल्प, अवधारणाएँ, आदर्श और उच्च अपेक्षाएं समाज में मूल्यों की स्थापना करती हैं। इन मूल्यों में से एक बड़ी संख्या के मूल्य जैसे परोपकार, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), दृढ़संकल्प, एकाग्रता, अक्रोध, विवेक, संतुलन तथा देशभक्ति आदि सार्वभौमिक मूल्य रहे हैं। कुछ ऐसे मूल्य होते हैं जो एक क्षेत्र विशेष या देश विशेष तक सीमित होते हैं तथा वहाँ की संस्कृति का हिस्सा होते हैं। ऐसे मूल्यों के उद्‌भव के लिए परिस्थिति-विशेष या परिस्थिति-समूह-विशेष तथा पर्यावरण या परिवेश-विशेष उत्तरदायी होता है। कभी-कभी यह किसी धर्मविशेष से भी संबद्ध हो सकते हैं जो अपने अनुयायियों द्वारा इनका कठोरता से पालन करने के लिए उन्हें निर्धारित करता है। भारतीय लोकाचार में 'स्त्रियों के सतीत्व' का बहुत महत्त्व है। आधुनिक युग के संदर्भ में यह भले ही अप्रिय या असंगत लगे क्योंकि लैंगिक समानता की चर्चा आजकल ज़ोरों पर है। परन्तु पारिवारिक एकता भारतीय संदर्भ में 'स्त्री की पवित्रता' पर आश्रित रहती है क्योंकि वही परिवार को जोड़े रखने में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहती है और अपनी 'पश्चिम की प्रतिरूप' के विपरीत वह कभी इस कर्त्तव्य से विमुख नहीं होती। इसीलिए भारतीय स्त्री को अपने प्राप्य से कहीं अधिक आदर व सम्मान मिला है। भारतीय स्त्रियां 'पूजा का विषय' रही हैं, देवता वहाँ आनन्द मनाते हैं जहाँ उनका सम्मान होता है– 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' यही उनके लिए कहा जाता है। उन्हें भूतकाल में और वर्तमान में भी 'देवी' का 'प्रशंसनीय-पद' दिया गया है। उनमें से बहुतों के नाम का हिस्सा है 'देवी' शब्द। बचपन में उन्हें दुर्गा देवी का अवतार माना जाता रहा है, आज भी माना जाता है। नवरात्र के दिनों में तो उनकी बहुत आवभगत होती है, उनके पैर धोए जाते हैं, नए वस्त्र, नगद रुपया पैसा तथा अच्छे पकवान दिए जाते हैं। चिरंतन-काल से स्त्रियों की 'स्वच्छंदता' पर भारतीय-समाज में भौहें चढ़ाई जाती रही हैं। सतीत्वरक्षा तथा पतिव्रत धर्म उनके मानस में इतनी गहनता से प्रविष्ट हो चुका है कि भारतीय

समाज में अत्याधुनिकता के बढ़ते प्रभाव के बावजूद, वे उससे बाहर नहीं आ सकी हैं। अन्यथा अनेक उच्च-शिक्षा-प्राप्त, सुरुचिपूर्ण व्यक्तित्वसंपन्न तथा अच्छे-अच्छे पदों पर आसीन कामकाजी स्त्रियां भी चाँद के निकलने तक करवाचौथ का दिनभर का निर्जल व्रत अपने-अपने पतियों की दीर्घायु तथा कल्याण के लिए भला क्यों रखतीं? मध्य-युग में जब हमारे कमज़ोर शासक उनकी रक्षा नहीं कर पा रहे थे तब भारतीय स्त्री ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए मृत्यु का वरण करना ही श्रेष्ठ समझा। इस प्रथा का नाम शंकर की पूर्व अवतार की पत्नी 'सती' के नाम पर पड़ा जो अपने पिता द्वारा किए पति के अपमान को सह नहीं सकी और यज्ञाग्नि में, अपने प्राणों का त्याग करने, कूद गई। उस काल में यही जीवनमूल्य मान्य था। परंतु बदलती परिस्थितियों में इस 'सती-प्रथा' को चलाते रहने का कोई अर्थ, कोई औचित्य नहीं रह गया है। वास्तव में यह प्रथा एक परिस्थिति-विशेष से उत्पन्न हुई तथा एक काल-विशेष तक ही सीमित रही। इस अनुचित प्रथा की कुछ घटनाएँ आज भी कभी-कभी दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु इनका भूतकाल की तरह 'सम्मान रक्षा' से कोई लेना-देना नहीं होता। ये तो मृत-पति के साथ संपूर्ण तादात्म्य दर्शाती हैं जिसके बिना जीवन अर्थहीन लगने लगता है। ऐसी घटनाओं के पीछे संबंधी-जनों के निहित स्वार्थ भी होते हैं जो पति-प्रेमातुर स्त्रियों को इस दारुण प्रथा का पालन करने को प्रेरित करते हैं। अस्तु, आज यह प्रथा कानूनी दृष्टि से निषिद्ध है। अतः इस पर अधिक चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं। मूलभूत बात यही है कि स्त्रियों के सम्मान की रक्षा करनी चाहिए - यह बात अभी बदली नहीं है। किसी भी समाज में केवल आदर्श स्त्री-पुरुष नहीं होते। पथभ्रष्ट लोग, स्त्री-पुरुष हर समाज का हिस्सा रहे हैं। भारतीय समाज भी इसका अपवाद नहीं है। हाल में हुई 'बलात्कार' की घटना के विरुद्ध जो जनाक्रोश उमड़ा और उन विरोध करने वाली स्त्रियों के साथ जैसे पुरुषों ने धक्कामुक्की की–यह एक अत्यंत ही चिंताजनक विषय है। नैतिक नियमों की पकड़ ढीली पड़ने पर भी उनकी संपूर्ण समाज पर पकड़ काफ़ी मज़बूत है तभी समाज में ऐसी घटनाओं का दृढ़ता से मुखर

विरोध होता है। यह इसीलिए है कि भारत में स्त्रियों के सम्मान के मूल्य पर विशेष ज़ोर दिया जाता है।

मुस्लिम समाज में स्त्रियों के मान-सम्मान की रक्षा के लिए ही यह विधान था कि वे बाहर निकलते समय किसी न किसी पुरुष संबंधी को साथ लेकर जाएं। पुरुषों की कामुक दृष्टि से बचने के लिए ही उन्हें आदेश था कि वे अपने शरीर को पूरी तरह से ढककर रखें जिसके अन्तर्गत हिजाब और बुर्का भी पहना जाता था।

इसी तरह कुछेक दूसरे मूल्य भी हैं जो या तो अपने स्वरूप या उनको दिए गए महत्त्व के कारण भारत की ही विशेषता हैं। इनमें से एक है अपने माता, पिता तथा गुरु के प्रति अत्यधिक आदरभाव। इनमें से प्रत्येक को 'देव' का स्थान दिया गया है, देखें तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली जहाँ गुरु विदा के समय शिष्य को शिक्षा देता है कि उसे माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि तक को 'देव' मानकर उनका सम्मान करना चाहिए। ऐसा उदात्त जीवनमूल्य समाज के लिए 'पथप्रदर्शक सिद्धांत' के रूप में कार्य करता है जिसका पालन करने के लिए व्यक्ति अकल्पनीय कष्ट सहने को भी तैयार रहता है। इसी मूल्य के चलते भगवान् राम ने वनवास जाने का निर्णय लेने में क्षणभर भी नहीं लगाया। यह पिता के उस प्रण की रक्षा के लिए था जिसमें उन्होंने उनकी सौतेली माँ को दो वर दिए थे। पहला वरदान राम को चौदह वर्ष का वनवास था। अपने प्रिय पुत्र, जो उनका जीवन ही था - से विमुक्त होने का कष्ट असह्य था, पर वे प्रतिज्ञाभंग भी करना नहीं चाहते थे। यही कारण था कि यह आदेश उन्होंने पुत्र को स्वयं नहीं दिया। उनकी ओर से कैकेयी (सौतेली माँ) ने ही इसे राम को सूचित किया। पिता की स्थिति को समझते हुए राम ने स्वयं को उसके लिए तैयार कर लिया जिससे कि पिता को वचन-भंग का दोष या पाप न लगे और वे प्रतिश्रुत वर को देने में सत्यप्रतिज्ञ प्रमाणित हों। इस प्रकार राम ने पिता के प्रति संपूर्ण आज्ञा-पालन का आदर्श स्थापित किया। यह भारतीय संस्कृति की एक मूलभूत नैतिक मान्यता है जो रामायण में अनुकरणीय शब्दों में प्रस्तुत हुई है–

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रुषा तस्य वा वचनक्रिया'॥ (रामायण 2.19.22)

अर्थात् 'पिता की सेवा अथवा उनकी आज्ञा का पालन करना जैसा महत्त्वपूर्ण धर्माचरण है, उससे बढ़कर संसार में और दूसरा कोई धर्माचरण नहीं।' माता को तो भारत में धरती से भी भारी अर्थात् गौरवशाली माना गया है - **'माता गुरुतरा भूमेः'** पिता से वह सहस्रगुणा महत्त्वपूर्ण मानी गई है - **सहस्रं हि पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते'** (बाल. रामायण 4.30)। गुरु की तुलना दिव्य त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से की गई है - **'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः'** और एक अतिथि के स्वरूप में तो मानो सारे देवता समाहित हैं।

अपने सम्मान की रक्षा तथा उसके लिए किसी भी तरह का समझौता न करना भी एक मूलभूत मान्यता है जिसे भारत ने युगों-युगों से संजोकर रखा है। महाराणा प्रताप जंगलों में घूमते रहे, उनके बच्चों को घास की रोटी खाकर गुज़ारा करना पड़ा परन्तु न तो उन्होंने अपने स्वाभिमान को छोड़ा न ही पराधीनता को स्वीकार किया। इसी प्रकार धर्म की रक्षा करना भी एक मूलभूत नैतिक सिद्धांत रहा है तथा हर संभव प्रयत्न उसके लिए करना सदा से अपेक्षित रहा है। गुरु गोविंदसिंह तो पिता से प्रेरित होकर नौ वर्ष की उम्र से ही धर्म की रक्षा के लिए तत्पर हो गए थे। उन्होंने इस गुण का विकास किया कि अपने धर्म में रहकर मरना भी श्रेयस्कर है परन्तु दबाव में आकर धर्म बदलना स्वीकृत नहीं। उनके स्वयं के 7 और 9 वर्ष के पुत्रों ने धर्मपरिवर्तन के स्थान पर मृत्यु का वरण किया। युद्धक्षेत्र में अपने दो अन्य पुत्रों के शहीद होने के बाद गुरु गोविन्दसिंह निष्ठुर अत्याचारी औरंगज़ेब और उसके कमाण्डरों के साथ वीरतापूर्वक लड़े परन्तु पराजय नहीं मानी। कौन भूल सकता है भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को जिन्होंने स्वेच्छा से मातृभूमि के लिए मृत्यु को गले लगाया? उनके जीवन-मूल्य वही थे–सम्मानपूर्वक जीवन जीना, स्वतन्त्रता के लिए प्रेम, धर्म की रक्षा तथा मातृभूमि के लिए प्रेम। ये वे लोग थे जिन्होंने जीवनमूल्यों के हित बड़े से बड़े बलिदान दिए और इतिहास के नायक बन गए।

भारतीय जीवनमूल्यों को समझने के लिए उनके मूलाधार को समझना जरूरी है। सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ मनुष्यों ने पशुओं की तुलना में जीवन जीने की कला को बेहतर तरीके से सीखा। संभवत: समूह में रहने की प्रेरणा आत्मरक्षा के कारण ही मिली होगी। व्यक्ति की आत्मरक्षा का भाव समूहरक्षा के भाव में परिणत हो गया होगा। इसी सिद्धांत से मनुष्य ने 'जीवन का महत्त्व' सीखा-समझा होगा। इसी ने 'जीवन में विश्वास' की सृष्टि की होगी और इसी के कारण व्यक्ति ने समूह व समाज की कीमत समझी होगी। यही जीवन-मूल्यों में उसके विश्वास का उष:काल रहा होगा। इन मूल्यों की नींव वास्तव में श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणों में सुरक्षित रही है। बुद्धिजीवी होने के कारण मनुष्य प्रारंभ से उचित-अनुचित, सही-गलत पर विचार करता रहा है प्रथम वैयक्तिक दृष्टिकोण से और बाद में सामाजिक दृष्टिकोण से और अन्तिम रूप से संपूर्ण मानवता के दृष्टिकोण से। धीरे-धीरे मनुष्य ने जीवन के हर क्षेत्र में औचित्य-अनौचित्य को अपने विवेक पर छोड़ दिया। वैयक्तिक क्षेत्र में तो वह स्वयं तर्कपूर्वक निर्णय लेता रहा परन्तु सामाजिक विषयों में वह अन्यों के साथ विचार-विमर्श करता रहा। पर जब यह नैतिक-सिद्धांत कालस्थान-परिस्थिति के अनुसार चल नहीं सका तब चिंतन द्वारा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि काल-स्थान-परिस्थिति के अनुसार मूल्य भी बदलने चाहिए। अत: व्यक्ति को देश-काल की महत्ता स्वीकार करनी ही चाहिए। यहाँ प्रश्न उठता है आखिर ये मूल्य हैं किसके लिए? उत्तर है पूरे समाज के लिए। जो मूल्य समाज के लिए लाभदायक नहीं हैं, उन्हें मूल्य कहना ही नहीं चाहिए। मूल्यों का महत्त्वपूर्ण आधार उनकी दूसरों के लिए उपयोगिता ही है। समाज के बारे में इतना कहे जाने के बाद इन मूल्यों का व्यक्ति के जीवन में क्या स्थान है, यह विचारणीय है। क्या उसे सामाजिक कल्याण के लिए अपने सभी मूल्यों का समर्पण कर देना चाहिए अथवा उसे अपने 'विवेक' की शरण लेनी चाहिए और अपनी उन्नति के बारे में भी सोचना चाहिए। एक बात स्पष्ट है कि व्यक्ति चाहे अपने विवेक का अनुसरण करे अथवा न करे, जो मूल्य उसके आन्तरिक-रूप का या उसका आत्म-विकास नहीं कर

सकते, वे मूल्य कहला ही नहीं सकते। भारतीय-मूल्य-व्यवस्था के आधाररूप निम्न तत्त्व या कारक हैं :-

1. जीवन में विश्वास
2. बौद्धिक-चिंतन
3. वातावरण या पर्यावरण का विकास
4. परकल्याण
5. आत्म-उदात्तीकरण या आन्तरिक-विकास

मूल्यों को व्यापक-दृष्टि से समझने के लिए उन्हें निम्न विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करना होगा–

1. शारीरिक मूल्य
2. मानसिक मूल्य
3. आर्थिक मूल्य
4. नैतिक मूल्य
5. सामाजिक मूल्य
6. आध्यात्मिक मूल्य
7. सौन्दर्यपरक मूल्य

शारीरिक मूल्य स्वस्थ शरीर से संबद्ध होते हैं। उनके आवश्यक उपादान होते हैं अवस्था, जाति तथा व्यवसाय के अनुरूप स्वस्थ, मज़बूत, संतुलित अंग तथा तेजस्वी मुख। मानसिक मूल्य होते हैं आत्मबल, आत्मविश्वास, गरिमापूर्ण सहनशीलता, आत्मनिर्भरता, निर्भयता, संतोष, धैर्य, दृढ़-निश्चय, दयादि। आर्थिक-मूल्यों के अन्तर्गत उचित रूप से शुद्ध साधनों द्वारा धनार्जन करना, अच्छे कार्यों के लिए व्यय करना, मितव्ययिता से खर्च करना, धर्मार्थ उदारतापूर्वक दान देना तथा संग्रह नहीं करना आदि आते हैं। नीतिशास्त्र में स्पष्टता से धन की तीन गतियों के बारे में कहा गया है-'दान देना, उसका उपभोग करना अथवा उसका अपव्यय या नाश'–**'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।'** नैतिक-मूल्य हैं कर्त्तव्य, ईमानदारी, समर्पण, बलिदान, सद्भावना, सेवा, सदाचार, सभ्य व्यवहार, सत्य में विश्वास, कानून और व्यवस्था के प्रति सम्मानादि। सामाजिक मूल्यों में सज्जनता, सहानुभूति, सहयोग, मानवीयतादि

सम्मिलित रहते हैं। राजनैतिक मूल्यों में देशभक्ति, अनुशासन, विजयोत्सवादि शामिल रहते हैं। जहाँ तक आध्यात्मिक मूल्यों का प्रश्न है उसमें आते हैं मन्त्रजाप, देव-महिमा, प्रार्थना, आत्माभ्युदय के मार्ग की खोज तथा आत्म-साक्षात्कारादि। बौद्धिक मूल्यों में जो महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं वे हैं कल्पनाशीलता, जिज्ञासाभाव, सूक्ष्मपरीक्षण, अनुसन्धान, पर्यवेक्षण, चिन्तन, रचनाशीलता और विवेकादि। सौन्दर्यपरक मूल्यों के अन्तर्गत कला के प्रति प्रेम, प्रकृतिप्रेम, मानवसौंदर्य के प्रति प्रेम आते हैं।

इस वर्गीकरण या श्रेणीकरण का अर्थ यह नहीं है कि ये मूल्य एक-दूसरे से संबद्ध नहीं हैं। वास्तव में तो ये सब जीवनमूल्य रूपी विराट् वृक्ष की शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। हम जिस परिवेश में रहते हैं या जिस वातावरण में पलते-बढ़ते हैं वहाँ से अपने अपने जीवन-मूल्यों को ग्रहण करना सरल होता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि बहुत बार दो मूल्यों या कहें दो प्रकार के मूल्यों में संघर्ष या द्वन्द्व की स्थिति आ जाती है तो उसे कैसे सुलझाएं? इसके समाधान के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण है। एक डरी हुई गाय कसाई के छुरे से बचने के लिए यदि हिंदुओं के मोहल्ले में आ जाती है और चौराहे पर कसाई आपसे पूछता है कि गाय किस तरफ गई है? तो क्या उत्तर होगा? यदि सत्य बताया जाएगा तो कसाई गाय को मार देगा। इसके कारण हिंदू-मुस्लिम दंगा हो सकता है जिसमें कई जानें जा सकती हैं। यदि कसाई को दूसरी दिशा में संकेत किया जाए तो वह सच नहीं होगा। शास्त्र आदेश देते हैं कि 'सत्य बोलो'-'**सत्यं वद**'। भारतीय विद्वानों ने दो मूल्यों के द्वन्द्व का समाधान भी बताया है '**श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः**'। द्वन्द्व की स्थिति में सर्वप्रथम व्यक्ति को वेदों से परामर्श करना चाहिए, बाद में स्मृतिग्रन्थों (धर्मविधि ग्रन्थों) से समाधान ढूंढना चाहिए, उसके बाद सदाचार क्या कहता है, आचारविधि क्या है यह सोचना चाहिए? तब भी समाधान न मिले तब व्यक्ति को अपने भीतर की आवाज सुननी चाहिए।

एक और स्थान पर कहा गया है - '**महाजनो येन गतः स पन्थाः**' अर्थात् 'महान् व्यक्ति जिस राह से जाते हैं वही सही राह है'। अतः

महान् पुरुष जिन मूल्यों का पालन करते रहे हैं उनको ही वरीयता दी जानी चाहिए। द्वंद्वात्मक या दुविधा-परक स्थितियों में उनके द्वारा समर्थित मूल्य जीवन में सुरक्षित राह दिखा सकते हैं।

विभिन्न श्रेणियों के व्यक्तियों के लिए विभिन्न जीवनमूल्य हो सकते हैं यह उपनिषद् के एक आख्यान से सिद्ध होता है। इस आख्यान के अनुसार प्रजापति के तीन तरह के पुत्र थे - देव, मनुष्य और राक्षस। वे शिष्य-रूप में उनके साथ ही रहते थे। अध्ययन-समाप्ति के बाद वे प्रजापति के पास गए और उपदेश के लिए कहा। प्रजापति ने एक वर्णात्मक उपेदश दिया और वह था 'द'। फिर उनसे अलग-अलग पूछा कि वे 'द' से क्या समझते हैं? देवों ने कहा 'द' का अर्थ है **'दाम्यत'** - अपने आपको संयम में रखें, मनुष्यों ने कहा **'दत्त'** दो, दान दो। राक्षस बोले **'दयध्वम्'**-दया करो। उनके उत्तरों से प्रजापति प्रसन्न हुए। उन्हें संतोष हुआ कि उन तीनों ने रहस्यात्मक वर्ण का सच्चा भाव समझ लिया। प्रजापति ने उन्हें बताया कि बादलों की गर्जनात्मक ध्वनि 'द' 'द' 'द' संदेश देती है कि संयम, दान व दया का अभ्यास करते रहो।

तीन प्रकार के प्रजापति पुत्रों ने जैसा जिसे जो उचित लगा वैसे 'द' की व्याख्या की। देवों के पास सब कुछ होता है अत: उन्हें संयम का अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य उदार हों-अपने लिए ही सारे साधनों का उपयोग न करें-संतुलित व सद्भावपूर्ण जीवन के लिए दूसरों के साथ मिल-बांट कर उपभोग करें अर्थात् दान देते रहें। राक्षस स्वभाव से क्रूर होते हैं अत: समाज की सुव्यवस्था के लिए उन्हें 'दयाभाव' का पोषण करते रहना चाहिए (बृहदारण्यक 5.2)।

भारतीय जीवनमूल्यों को समझने के लिए तीन दिशाएं हैं-

1. दार्शनिक आधार
2. सामाजिक जागरूकता
3. वैयक्तिक चरित्र

तप, यज्ञ, सेवा तथा आत्मसाक्षात्कार के मार्ग के प्रति श्रद्धाभाव के परिणामस्वरूप भारतीय मेधा ने दार्शनिक आधारभूमि को तलाश लिया था। इसीलिए हमारी जीवनशैली, धर्म-साहित्य-कला, रीति-रिवाज़ तथा

परंपराएं भी दार्शनिकता से विकसित हुई हैं। संपूर्ण जीवन का यह शाखाओं-प्रशाखाओं से युक्त विराट् वृक्ष, इसकी पर्ण-सम्पदा, पुष्पफल-सम्पदा सब ही इस ऊर्जापूर्ण आधार के तत्त्वों से शक्ति ग्रहण करते हैं।

भारतीय मूल्यव्यवस्था की नींव एक अव्यक्त तत्त्व में विश्वास पर टिकी है। वही इस ब्रह्माण्ड का स्रष्टा, पालक तथा विनाशक है। उसके बहुत नाम, बहुत रूप हैं। **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**-अर्थात् 'वह एक है जिसे ऋषि या प्रज्ञजन अनेक नामों से पुकारते हैं।' भारतीय मूल्यों के अनुसार एक वही है जो सर्वव्यापक, स्रष्टा तथा नियामक है। ऐसा होने के कारण वह इन्द्रियों द्वारा अज्ञेय है। वह इन्द्रियों जैसे जिह्वादि की पकड़ के बाहर ही नहीं, मन के भी परे है। ऋषि, मुनि व तपस्वी कहते हैं कि उसे तो आत्म-साक्षात्कार या अनुभूति के स्तर पर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए भारतीय-मूल्यों के अनुसार धन, बुद्धि या भौतिक समृद्धि से युक्त व्यक्ति महान् नहीं होता। महान् वही है जिसने ईश्वर की अनुभूति कर ली है अथवा जिसने परमात्मा के साक्षात्कार का मार्ग ग्रहण कर लिया है। वैज्ञानिकों ने इस आधुनिक युग में कार्यकारण के सिद्धांत को प्रतिपादित किया है। हर कार्य का एक कारण होता है। किसी अज्ञात व्यवस्था के तहत सारा ब्रह्माण्ड 'गति' में है। यदि 'गति' है तो ऐसा तत्त्व या कारण भी होना चाहिए जो 'गति' का कारण है। वही तत्त्व एक अव्यक्त है। इसके नाम असंख्य हैं।

पूरा ब्रह्माण्ड कुछ निश्चित नियमों के अन्तर्गत 'गति' में है। ये चिरकाल से स्वीकृत नियम 'ऋत' के भीतर समाहित हैं। ये नियम ही जड़-चेतन सबको शासित करते हैं। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारे, दिन-रात, ऋतुएँ-शीत-ग्रीष्म, वनस्पतियों का उगना, वृक्षों का फूलना-फलना और नष्ट हो जाना, जन्म, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था और मृत्यु—ये सभी एक 'सनातन नियम' के विभिन्न पक्ष हैं। भारतीयों का इस 'सनातन नियम' या 'सनातन-व्यवस्था' में गहन विश्वास है। वे सौ-बरस तक जीने की प्रार्थना करते हैं। वे प्रकृति के साथ संतुलन बनाने का प्रयत्न करते हैं, उसे जीतने की कोशिश नहीं। वनस्पति-जगत् का वह

सम्मान ही नहीं करते अपितु उसकी पूजा करते हैं। वे शरीर की अमरता की न इच्छा करते हैं न ही उसके लिए प्रार्थना करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि 'नश्वरता' प्राकृतिक नियम है। प्रकृति के नियम भंग कर वे शान्ति व समृद्धि में जीवन व्यतीत कर सकेंगे-इस बात में उनका विश्वास नहीं। मनुष्य उस अव्यक्त सत्ता के विशिष्ट भाग हैं। वे उससे ही उत्पन्न होते हैं उसी में विलीन हो जाते हैं। भारतीय **'अंशांशिभाव'** अथवा स्वयं को 'एक सत्ता एक अंश' मानते हैं, **'अग्निस्फुलिंगवत्'** - अथवा अग्नि की चिंगारी की तरह अथवा **'जलबिन्दुवत्'** पानी की एक बूंद की तरह या **'जलतरंगवत्'** 'जल की एक लहर' की तरह। अग्नि की एक चिंगारी में अग्नि की सभी विशेषताएँ होती हैं बस मात्रा कम होती है। एक चिंगारी भी जब घास के ढेर पर या ऐसे ही किसी पदार्थ पर गिर जाती है तो वह अग्नि में ही परिणत हो जाता है। यही अन्तिम लक्ष्य है। इसी प्रकार मनुष्य रूपी अंश जब अपनी दिव्यता को विकसित कर लेता है तब वह दिव्य ही हो जाता है। पाश्चात्य दर्शन का चिंतन कि मनुष्य मूलतः न अच्छा है न बुरा - उसे हम जैसा चाहे वैसा बना सकते हैं - यह भारतीय दर्शन के चिन्तन से मेल नहीं खाता। असली रूप में तो यह विश्वास ही भारतीय अध्यात्म की नींव है। इसी आध्यात्मिकता के कारण एक आम भारतीय के जीवन का उद्देश्य भौतिक उन्नति करना नहीं होता। क्योंकि भौतिक उन्नति उस पर अगणित सुविधाओं की वर्षा भले ही कर दे परन्तु उसे शान्ति तथा चिरन्तन आनन्द नहीं दे सकती, जिसकी नींव, जिसकी आधारभूमि धर्म है, जो भारतीय-जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। धर्म एक विशेष नियन्त्रक शक्ति है जो प्रत्येक को उसका कर्त्तव्य निभाने के लिए प्रेरित करती है। यह धर्मशास्त्रों के अनुसार **'अभ्युदय'**, उदात्त समृद्ध मार्ग तथा **'निःश्रेयस'**, आध्यात्मिक मार्ग की ओर ले चलता है। वास्तव में भारतीय परंपरा में धर्म ही सब जीवन-मूल्यों का आधार है। भारतीय जीवन-मूल्यों का भवन धर्म की नींव पर ही खड़ा है। जीवन-मूल्यों की विभिन्न धाराएं इसी का विस्तार हैं। ज्ञान, भक्ति तथा कर्म, धर्म के चरण हैं जिनका अनुसरण मनुष्य अपने-अपने स्वभाव, रुचि तथा सुविधा के

अनुसार उचित अनुपात में करता है। ज्ञानाधृत भक्ति एक उदात्त मूल्य के रूप में स्वीकृत है। अन्धविश्वास पर आधृत भक्ति का परिहार करने के लिए ज्ञान का आधार आवश्यक है। ऐसी स्थिति में निष्क्रिय नहीं रहा जा सकता। हमारी सक्रिय सहभागिता इसमें आवश्यक है। सच में भक्ति- ज्ञान-कर्म तीनों का समन्वय एक हितकारी प्रभाव उत्पन्न करता है। इन तीनों का अनुपात समय-समय पर बदलता रह सकता है परन्तु चरमलक्ष्य जो मुक्ति है वह कभी बदल नहीं सकता। यह मुक्ति भी कई प्रकार की होती है और इसके निहितार्थ भी विभिन्न होते हैं यथा सांसारिक दु:खों से मुक्ति, सांसारिक-जीवन से मुक्ति तथा आत्मा-परमात्मा का ऐक्य। भारतीय-जीवन का उद्देश्य चतुर्विध है-धर्म-अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म अर्थ तथा काम से श्रेष्ठ है जिसका पालन इन दोनों के नियन्त्रण के लिए जरूरी है। धर्म द्वारा मोक्ष प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है।

यदि पूछा जाए तो भारतीय जीवन का मेरुदण्ड क्या है तो सरलता से कहा जा सकता है कि वह है सांसारिक जीवन से विराग। जीवन को उसकी संपूर्णता में जीते हुए–उसका भोग त्याग की भावना से करना चाहिए–**'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'**-जैसा कि ईशावास्योपनिषद् कहता है। (अर्थसाधन संपत्ति) जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनिवार्य है परन्तु यह परिश्रम से ही अर्जित किया जाना चाहिए। एक सामान्य व्यक्ति के मन में धन कमाने की प्रवृत्ति तो होती ही है परन्तु इस प्रवृत्ति को धर्म से नियंत्रित किया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि धनसंपत्ति का अर्जन न्यायसंगत रीति से होना चाहिए। इसी प्रकार मनुष्य की इच्छाएं असंख्य हैं, हमें अनुचित तरीके से उन्हें पूरा नहीं करना चाहिए। यही नहीं मनुष्य को अपनी इच्छाओं को उचित दिशा भी देनी चाहिए जिससे कि वे भटक न जाएँ। उपनिषद् इस बिंदु को अत्यन्त स्पष्टता से समझाते हैं। उनके अनुसार जीवन एक रथ है, इन्द्रियां इसमें जुते घोड़े, मन वल्गा (लगाम) तथा बुद्धि सारथि है। यदि धर्म इन्हें नियन्त्रित रखता है तो वे मुक्ति के मार्ग का अनुसरण करते हैं। जहाँ नियन्त्रण हटा वहाँ वे बेकाबू हो जाते हैं। मानवजीवन का संपूर्ण

चित्र इससे अच्छे तरीके से नहीं बताया जा सकता। भारतीय-मूल्यों के संदर्भ में कर्म सिद्धांत एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी है। हर व्यक्ति को अपने किए अच्छे-बुरे कर्मों का फल मिलता ही है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यही मूल दार्शनिक आधार है जहाँ से भारतीय जीवन मूल्यों का विकास हुआ। सांस्कृतिक विकास के लम्बे इतिहास में कुछ विसंगतियाँ, कुछ अपवाद अवश्य रहे हैं फिर भी ये जीवनमूल्य भारतीय जीवनधारा को मुख्यतः गति देते रहे हैं, प्रवाहित करते रहे हैं।

भारत में सदा से एक स्वस्थ-समाज के निर्माण के प्रयत्न होते रहे हैं। आश्रम व्यवस्था उसे एक ढांचा प्रदान करती रही है। उसके बिना हमारे समाज का स्थायित्व संकटापन्न हो सकता है। यदि हम मानव-समाज के बारे में सोचें तो यह व्यवस्था विश्वसनीय लगती है। प्रारम्भ के 25 वर्ष बच्चे के संपूर्ण विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं जब वह तन, प्राण, मन, बुद्धि तथा आत्मा के स्वस्थ-विकास की ओर आगे बढ़ रहा होता है। न केवल उसे आत्मसाक्षात्कार के लिए स्वाध्याय करना होता है अपितु भविष्य में आजीविका के लिए कोई न कोई कला या कोई शिल्प भी सीखना होता है। यही वह समय होता है जब एक व्यक्ति को अपनी मानसिक ऊर्जाओं को प्रबुद्ध तथा नियंत्रित करना होता है। फिर बौद्धिक विकास, विशेषकर विवेकबुद्धि की प्रेरणा के लिए, प्रबुद्धजनों तथा आचार्यजनों की संगति आवश्यक होती है। इसी वातावरण में ज्ञान के लिए जिज्ञासाएं तथा संशय दूर किए जा सकते हैं। इसी समय सामाजिक शिष्टाचार सीखना और चरित्रनिर्माण करना होता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इस काल में जिन मूल्यों को व्यक्ति उपार्जित कर लेता है, उसका जीवन उन पर ही आधृत रहता है। प्राचीनकाल में अध्ययन करते हुए गुरुकुल में रहकर यह सब ग्रहण करना सरल होता था। आधुनिक युग में कुछेक छात्रावासयुक्त विद्यालय या संस्थाएं ही ऐसी हैं जहाँ प्रेरक तथा रचनात्मक संस्कृति के कार्यक्रमों से यह कार्य किया जाता है। भारतीय लोग व्यक्तित्व के सर्वांगीण

विकास के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम को ही उपयुक्त मानते रहे हैं। गृहस्थाश्रम को जीवन के लिए एक बड़ा अवसर, एक बड़ा सुयोग माना गया है। गृहस्थाश्रम न केवल अन्य तीन आश्रमों की ज़रूरतें पूरी करता है अपितु उन्हें आवश्यक साधन-संपदा भी प्रदान करता है। यह महान् उत्तरदायित्व व्यक्ति को 25 से 50 वर्ष की आयु तक उठाना होता है। यह जीवन का अत्यन्त मुख्य कालखण्ड है जब व्यक्ति जीवन का रस लेता है तथा सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति करता है। धर्मपरायणता पर आधृत सांसारिक वस्तुओं के संग्रह तथा सांसारिक उपभोग ही इसकी नींव में हैं। इसके पश्चात् जीवन की तृतीय अवस्था शुरू होती है जहाँ हम परिवार के बंधन से ऊपर उठकर समाज का स्नेहपूर्वक पोषण करते हैं। हमें व्यावहारिक रूप में अपना आत्मसंयम तथा संतोषभाव प्रकट करना होता है। हमें परहित की भावना का विकास कर, अपने सामर्थ्य पर दूसरों के कष्टनिवारण करने होते हैं, वह भी कर्त्तव्यभावना से और उसे सिद्ध करना होता है सेवाभाव से। इससे न केवल व्यक्ति की दृष्टि-सीमा और भावनाओं का उदात्तीकरण होता है बल्कि व्यक्ति का भीतरी मन विस्तार पाता है तथा पवित्र हो जाता है। इससे सक्रिय सांसारिक जीवन से अनासक्ति की ओर का संक्रमणमार्ग निर्बाध हो जाता है। दूसरों के स्वस्तिभाव का ध्यान रखना तथा आत्मविकास जीवन को और अधिक अर्थपूर्ण बना देते हैं।

संन्यास-आश्रम मानव जीवन की चतुर्थ व अन्तिम अवस्था है जब उसे सांसारिक इच्छाओं से निर्लिप्त होना होता है तथा परमसत्ता से निकट का संबंध स्थापित करना होता है। संतान, संपत्ति तथा यश के प्रति आसक्ति से ऊपर उठना सन्यासी का धर्म है। एक व्यक्ति में यश प्राप्ति की स्वाभाविक चाह होती है। जब तक इस चाह से वह ऊपर नहीं उठता तब तक वह यश के प्रति अनासक्त नहीं हो सकता। निर्लिप्तता के प्रति रुचि या प्रवृत्ति का मार्ग कितना कठिन परन्तु सीधा और सहज है। वास्तव में जब व्यक्ति प्रारंभ से सांसारिक मोह त्याग कर अनासक्ति को अपना लेता है तो यह (संन्यास) मार्ग सुगमता से गम्य हो जाता है। भारतीयों में बहुसंख्यक लोग पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। जीवन के

अन्तिम चरण में उन्हें जन्ममरण के बंधन से मुक्त होने की संभावना दिखाई पड़ती है। एक अनपढ़ गांववासी अधिक श्रम के बाद भूखा रह सकता है परन्तु मुक्ति की चाह नहीं छोड़ सकता। इससे अधिक क्या मूल्य हो सकता है आध्यात्मिक जीवन का?

दूसरा महत्त्वपूर्ण सामाजिक मूल्य है वर्णव्यवस्था (क्लॉस सिस्टम)। मनुष्यों की रुचियां और स्वभाव एक जैसे नहीं हो सकते। अतः सबको एक जैसे कार्य भी नहीं दिए जा सकते। स्वभाव के आधार पर भारतीय चिंतकों ने समाज को तीन श्रेणियों में बाँटा है-सात्त्विक (शुद्ध), राजसिक (भावप्रवण), तामसिक (अधोवर्ती)। भगवान् कृष्ण ने गीता में 'गुणकर्मविभागशः' (4.13), गुण और कर्म के अनुसार समाज को श्रेणीबद्ध किया है। ये चार श्रेणियां हैं-बुद्धिजीवी (ब्राह्मण), प्रजारक्षक, योद्धा या राजा (क्षत्रिय), व्यापारी-वर्ग (वैश्य) तथा सेवक, श्रमिक या अप्रशिक्षित कामगर (शूद्र)। यह विभाजन मनुष्यों के स्वभाव सामर्थ्य, योग्यता तथा कौशल पर आधारित था। इन कर्त्तव्यों को ईमानदारी और समर्पणभाव से करना उनका सबसे बड़ा जीवनमूल्य था। ब्राह्मण का कर्त्तव्य पढ़ना, पढ़ाना, शास्त्रों का पाठ करना या स्वाध्याय करना है। चिन्तन और मनन कर समाज तथा राष्ट्र को दिशानिर्देश करना भी इसी बुद्धिजीवी वर्ग का काम होता है। ये ब्राह्मण स्वयं अत्यंत सादा, संतुष्ट, विनम्र तथा शुद्ध जीवन बिताना अपना धर्म मानते हैं तथा कभी भी धन और सत्ता के मोह या लोभ में नहीं पड़ते। क्षत्रिय का कर्त्तव्य है देश, समाज तथा धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राण न्यौछावर कर देना। वही समाज में अनुशासन तथा व्यवस्था के लिए जिम्मेदार होता है। वैश्यवर्ग को न्यायसंगत ढंग से कृषि, व्यापार, उद्योग, व्यवसायादि से धनार्जन करना होता है। एक शूद्र को सेवाकर्म तथा शारीरिक-श्रम द्वारा आजीविका चलानी होती है। सामाजिक-विकृतियों की वजह से यह व्यवस्था बाद में जन्म के आधार पर मानी जाने लगी। इस कारण समाज में अव्यवस्था फैल गई लेकिन इसके मूलस्वरूप को समझने पर पता चलता है कि इस व्यवस्था के भीतर कितना गहन चिन्तन छिपा था।

'जहाँ स्त्रियों का सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं' (**'यत्र**

नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः')- यह सूक्ति इस बात पर बल देती है कि प्राचीन भारत में स्त्रियों को अत्यधिक सम्मान दिया जाता था। भारत में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का स्थान सदैव अधिक ऊंचा रहा है। जब हम सीताराम का उच्चारण करते हैं तब राम से पहले सीता का स्थान है। यही नहीं, अर्धांगिनी के बिना कोई यज्ञ, कोई भी संस्कार या कोई भी शुभ कार्य पूर्ण नहीं होता। पत्नी के कारण ही घर घर कहलाता है (**'गृहिणी गृहमुच्यते'**) मध्ययुग में विदेशियों के दुर्व्यवहार तथा उनकी दुर्भावनाओं के कारण स्त्रियों के सम्मान का स्तर नीचे गिरा परन्तु तब भी उस काल के लोग जो गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते थे, स्त्रियों के प्रति अत्यन्त आदर प्रदर्शित करते थे। दक्षिण भारत में आज भी भारतीय स्त्रियों को आदरवश 'अम्मा' कहा जाता है। इस संस्कृति में माता बच्चे का प्रथम गुरु कही जाती है। सामाजिक क्षेत्र में भी स्त्रियों का ध्यान अच्छी तरह से रखा जाता है। यह भारतीय मूल्यों की अभिव्यक्ति का एक दूसरा तरीका है।

भारत में सामाजिक संबद्धता या एकता बहुत कुछ स्त्रियों के आत्मत्याग के स्वभाव के कारण ही है। अपने पति के प्रति उनका भक्तिभाव असाधारण होता है। बहुत बार वे पतियों के विचलन को भी सहती हैं परन्तु स्वयं पतिव्रत धर्म (सतीत्व) का त्याग नहीं करतीं जिससे कि कहीं परिवार विघटित न हो जाए। परिवार-विघटन का अनर्थकारी परिणाम विवाह से उत्पन्न बच्चों पर सबसे अधिक पड़ता है। जो पतवार-हीन नाव की तरह इधर-उधर होते हुए मानसिक रूप से अशान्त और विक्षुब्ध हो जाते हैं। वे अपने तरीके से अपने पतियों पर भी शान्त सा प्रभाव डालकर अपनी सीमाओं के भीतर रहते हुए उन्हें अन्यायपूर्ण मार्ग पर चलने से बचाती हैं। उस काल में संयुक्तपरिवारव्यवस्था आज की तरह अपवादस्वरूप न होकर, सामान्य थी तथा उसे ही आदर्श भी माना जाता था। आज भी अत्यन्त पारंपरिक परिवारों में कुछ सीमा तक वह शेष है यद्यपि आधुनिक तकनीकी एवं वैज्ञानिक दबावों तथा पाश्चात्य प्रभाव के इस उपमहाद्वीप में फैलते जाने के कारण यह बहुत तेजी से समाप्त-प्राय होती जा रही है। पहले स्त्रियाँ बड़ों की, ससुरालपक्ष

के लोगों की सेवा करती थीं। परिवार का वे मुख्य आधार हुआ करती थीं। यही नहीं पुरुष भी बड़ों का ध्यान रखने का आदर्श निभाते थे जिसमें केवल उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की बात ही निहित नहीं थी अपितु उनकी भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति की बात भी शामिल रहती थी जिससे कि वे स्वयं को परित्यक्त सा अनुभव न करें। एक पुराना श्लोक सुंदरता से एक परिवार की कुलवधू के संपूर्ण आचरण को दर्शाता है-

अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता
तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम्।
सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति
प्राच्यैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धांतधर्मा अमी।

(बालरामायण 4.43)

'गृहपति (घर के मालिक बड़े-बूढे) के आते ही खड़े होकर उसका स्वागत करना, बात करते हुए नम्र रहना, दृष्टि उसके चरणों में (गड़ाये) रखना, आसन देना, उसकी परिचर्या स्वयं करना, उसके सो जाने के बाद सोना, उसके शय्या त्याग करने से पहले उठ जाना, हे पुत्रि, प्राचीन जनों ने कुलवधुओं के लिए यही सिद्धांत, यही धर्म निश्चित किए हैं।'

अलोलुपता तथा त्यागभाव का विकसन जैसे मूल्य भारतीय-जीवन के विशिष्ट मूल्यों में भले ही न आएं पर तब भी उन पर बल दिया गया है। चिकित्सकों के नैतिक धर्म के अन्तर्गत अलोलुपता का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। राजाओं और महाराजाओं से बढ़कर तपस्विजनों का सम्मान किया जाता था। राजा लोग भी उनके चरणों में झुकते थे, विपत्ति के समय उनके पास सलाह व सहायता लेने जाते थे। उनका तप सामाजिककल्याण का सर्वोत्तम साधन माना जाता था।

संस्कारों का भारतीय-समाज में विशिष्ट स्थान है। संस्कारों को कर हम केवल उनका महत्त्व ही स्थापित नहीं करते अपितु आन्तरिक चेतना को भी उदात्तीकरण की ओर प्रेरित करते हैं। हमारे सोलह संस्कार हमारे जीवन-मूल्यों की तरह विशिष्ट हैं तथा इनमें से कुछ सांसारिक-जीवन के लिए हैं तो कुछ मोक्ष के लिए हैं। जन्म, यज्ञोपवीत और विवाह

संस्कार आमोद-प्रमोदपूर्ण होते हैं तो अंत्येष्टि संस्कार संदेश देते हैं कि इस जीवन में कुछ भी स्थायी नहीं है। इन सभी संस्कारों में समाज के अनेक व्यक्तियों की उपस्थिति प्रमाणित करती है कि मनुष्य दूसरों के सुख-दु:ख में शामिल होने के लिए अपने सुख-दु:ख भूल जाता है। इससे समाज का विस्तार होता है। उदासी व दु:ख के क्षणों में सहानुभूति कष्ट कम करती है तथा आमोद-प्रमोद के क्षणों में यह भावना आनन्द को दुगुना करती है। क्या ये मूल्य कम महत्त्वपूर्ण हैं?

भारतीय जीवन में लक्ष्यों को महत्त्व तो ज़रूर दिया जाता है पर इससे अधिक महत्त्व लक्ष्यों को पाने के लिए प्रयुक्त साधनों को दिया जाता है। अनुचित-साधन कभी भी उचित लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकते। कुछ समय के लिए यह अजीब लग सकता है पर वास्तव में ऐसा है नहीं। कोई भी उद्देश्य क्यों न हो, धनार्जन, पद-यश या अन्य कोई भौतिक लाभ, उचित-साधनों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यहाँ तक कि युद्ध की स्थिति में भी आचरण के नियमों का पालन किया जाता था। अक्सर वे धर्म की रक्षा के ही लड़े जाते थे अत: उन्हें सही ही कहा जाता था।

भारतीय मूल्यव्यवस्था में आन्तरिक पक्ष को बाह्य पक्ष से अधिक महत्त्व दिया गया है। शरीर से प्राणशक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है। कपड़ों का स्वच्छ होना अच्छा है पर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उन्हें पहने हुए कौन है? तभी तो विवेकानन्द ने विदेश में एक नव-विवाहित को कहा था-'तुम्हारे देश में एक दर्जी व्यक्ति को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाता है पर मैं जहाँ से आया हूँ, वहाँ उदात्त-चरित्र ही व्यक्ति को सुसंस्कृत करता है।' जहाँ सदाचार या धार्मिकता सही अर्थों में नहीं रहती वहाँ कर्मकाण्ड प्रमुख हो जाता है। इसी कारण बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म का उदय हुआ। मध्यकाल में इस तरह के आडम्बरप्रिय जनों के विरुद्ध संत कबीर जैसे लोग पैदा हुए। उन्होंने जीवन के सच्चे सार को प्रतिष्ठापित किया। इस देश के साहित्य में भाषा, छंद, अलंकार इन सबका अपना-अपना महत्त्व रहा है परन्तु 'रस' (नौ रस) को साहित्य की आत्मा माना गया है। मूर्तिकला या चित्रकला में कला की प्रस्तुति या

प्रदर्शन तो अवश्य होता है पर उसमें भी यह उद्देश्य अधिक महत्त्वपूर्ण होता है जिसके लिए उसका सर्जन किया जा रहा है। 'सत्य' चित्रण तो ज़रूरी है पर उसका 'शिव' कल्याणमय होना और 'सुन्दर' होना भी ज़रूरी है।

भारतीय जीवन मूल्यों की एक और विशेषता है संतुलन। आदर्श एवं यथार्थ का संतुलन, आन्तरिक और बाह्य का संतुलन, बुद्धि और भाव का संतुलन, धर्म व कर्म का संतुलन, भोग व त्याग का संतुलन, लोक व परलोक का, विचार व भावना का, सत्य व यथार्थ का, कर्त्तव्य और अधिकार का, परिवार तथा समाज, कला तथा साहित्य, जाति तथा देश, देश-विदेश, संपत्ति-भोग, मानव तथा प्रकृति का संतुलन भारतीय संस्कृति की विशेषता है। यूँ जीवन के हर क्षेत्र में संतुलन का विशेष महत्त्व है। यह संतुलन समुचित संयोग को दर्शाता है जिससे जीवन की उपयुक्तता या जीवन के औचित्य का निर्णय होता है। जैसे प्रकृति में पवित्रता, आवेग तथा अंधकार का समानुपातिक मिश्रण बना रहता है जिससे पूरे ब्रह्माण्ड के प्राकृतिक नियमों में गतिशीलता रहती है वैसे ही प्राणियों में समुचित संयोगमात्र का सिद्धांत कार्य करता है। इसीलिए भारतीय साहित्य में हमें समुचित भाव, विचार तथा अभिव्यक्तियों का समानुपातिक मिश्रण प्राप्त होता है। जैसे एक चित्र में विशिष्ट वर्ण-संयोजन या रंगों का मिश्रण होता है वैसे ही संगीत में स्वरों का उतार-चढ़ाव होता है। भारतीय कला व शिल्प के विविधात्मक सौंदर्य का श्रेय इसी उचित समानुपात को जाता है।

भारतीय मूलतः कर्मशील जीवन अथवा अध्यवसाय में विश्वास रखते हैं। कर्मसिद्धांत में विश्वास रखने वाले भारतीय जानते हैं कि देर-सवेर अपने कर्मों का फल उन्हें अवश्य मिलेगा। यही विश्वास उन्हें व्यर्थ के विषाद या अवसाद से बचाता है तथा उन्हें शान्ति प्रदान करता है। कुछ नैतिक मूल्य जिन्हें भारतीय जन अधिक वरीयता देते हैं निम्नलिखित हैं।

एक सामान्य भारतीय गाय तथा ब्राह्मण (या विद्वान्) का सम्मान ही नहीं एक तरह से उनकी पूजा ही करता है। वेद-पुराण-स्मृति व अन्य

शास्त्रों में उसका पूर्ण विश्वास भले ही न हो परन्तु वह निश्चितरूप से माता-पिता-गुरु तथा अन्य वरिष्ठ-जनों का सम्मान तो करता ही है। यह सम्मानभावना उसे उनकी सेवा करने को प्रेरित करती है जो उसके लिए सर्वदा आनंद का कारण होती है। सेवा भले ही भौतिक रूप में (जो उसके साधनों पर निर्भर होती है) हो या न हो परन्तु मानसिक रूप से होती ही है। माता, पिता और ईश्वर के प्रति ऋण चुकाने का साधन सेवा ही है।

एक छात्र को हमेशा नम्र, विनीत, दूसरों का ध्यान रखने वाला तथा ज्ञान का पिपासु होना चाहिए। निरंतर अभ्यास से उसे ज्ञानार्जन करते रहना चाहिए। सुख की इच्छा करना भी उसके लिए अच्छा नहीं। उसे केवल ज्ञानार्जन ही नहीं करना अपितु आचार्य से सदाचरण भी सीखना चाहिए। तभी वह एक सभ्य-सुसंस्कृत नागरिक बन सकता है। भारतीय समाज में एक विद्वान्, एक ज्ञानी पुरुष से अधिक सम्मान एक सदाचारी या सच्चरित्र व्यक्ति का किया जाता है।

सुन्दर और सद्गुणों के विकास के लिए भारत में व्यक्ति को सुन्दर एवं सार्थक नाम देने की परंपरा है। भारतीय नाम-रूप-आकृति की एकता में विश्वास रखते हैं। इसलिए श्रेष्ठ सिद्धांतों का अध्ययन, श्रेष्ठ कर्म तथा श्रेष्ठ संगति का उनके लिए विशेष अर्थ है। समुचित वातावरण से श्रेष्ठ कर्म करने की प्रेरणा मिलती है फिर उन श्रेष्ठ कर्मों से वे उदात्त-चरित्र विकसित करते हैं। भारतीय मूल्य-व्यवस्था के प्रासाद की नींव यही समुचित वातावरण रहा है।

उष:काल में जगना अत्यंत हितकर माना जाता है। उष:काल में पर्यावरण प्रशान्त रहता है जो मनुष्य के मन में स्वाभाविक रूप से उदात्त विचारों को जन्म देता है। संभवत: यही कारण है कि भारतीय लोग उष:काल में ही प्रार्थना और ध्यान करते हैं। व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए शुद्ध एवं स्वस्थ शरीर की अपेक्षा रहती है। प्रत्येक भारतीय प्रात: स्नान से अपने शरीर को स्वच्छ करता है। व्यायाम उसके शरीर को स्वस्थ बनाता है। फिर बड़ों को प्रणाम तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त कर वह स्वयं में विनम्रभाव का विकास तो करता ही है साथ ही वह श्रद्धा तथा सेवा की भावना को भी मन में जीवित रखता है। यज्ञ सम्पन्न करके वह अपने

गृहस्थान या भवन को शुद्ध रखता है तथा मन और बुद्धि का शुद्धीकरण करता है। परिश्रमपूर्वक उपार्जित धन का प्रयोग या उपभोग करने में उसका दृढ़ विश्वास रहता है। वह सादा, स्वच्छ तथा पौष्टिक भोजन करता है। यह अन्न उसके सूक्ष्म तन तथा सूक्ष्म मन दोनों का पोषण करता है। अशुद्ध अपवित्र अन्न कभी भी शुद्ध पवित्र मन को जन्म नहीं दे सकता। अत: यह एक भारतीय को स्वीकार्य नहीं। क्या खाना चाहिए? क्या नहीं? इस बात की विवेकशीलता उसके भीतर रहती है।

अतिथिधर्म भी भारतीय जीवन का एक विशिष्ट लक्षण है। एक अतिथि का आदर-सत्कार बड़े जतन से किया जाता है तथा उसका आशीर्वाद हमेशा चाहा जाता है। इसमें औपचारिकता से बढ़कर समर्पण और समझदारी निहित रहती है। हमारे जीवनमूल्यों के अनुसार व्यक्ति को उसी घर में जाना चाहिए जहाँ सम्मान मिले। वृद्ध एवं रोगी की सेवा करना हमारा मानवीयतावादी या लोकोपकारी कर्त्तव्य है। यह सर्वथा विनम्र भाव तथा नि:स्वार्थ भाव से ही की जानी चाहिए। जिस सेवा से व्यक्ति अहंवादी बने वह सेवा भारतीय-संस्कृति में स्वीकृत नहीं। इसी प्रकार दान भी ईमानदारी तथा स्वार्थरहित होकर दिया जाना चाहिए। चाहे यह दान धन का हो, श्रम का हो, ज्ञान या सेवा का हो। यह दान योग्य तथा सुपात्र को ही दिया जाने का विधान है। जहाँ तक हो सके यह (दान) गुप्त-रूप से, अज्ञात-रूप से दिया जाना चाहिए। दानकर्म का विज्ञापन अथवा अपने किए दान का श्रेय स्वयं लेने से अभिमान बढ़ता है तथा व्यक्ति अपयश का भागी होता है-'**कीर्तिर्हृसति कीर्तनात्**'। सभी दानों में ज्ञानदान श्रेष्ठ माना जाता है-'**सर्वेषामेव दानानां विद्यादानं विशिष्यते।**'

भारतीय संस्कृति में आकर्षक प्रदर्शन के लिए कोई स्थान नहीं, स्थान है तो बस सुरुचि और परिष्कार के लिए। भारत में वस्त्राभूषण की बनावट या गठन को महत्त्व नहीं दिया जाता। उससे अधिक मूल्यवान् चरित्र को ही माना जाता है। वृद्ध-वरिष्ठ जनों के प्रति आदर तथा विनम्रता आदि आन्तरिक गुण हैं जिनके विकास के लिए प्रयत्न किया जाता है। बड़ों को हमेशा सम्मान दिया जाता है तथा उनके आशीर्वाद की कामना की जाती है। उन्हें संबोधित करते हुए व्यक्ति से अपेक्षा की

जाती है कि वह इन चार बातों का ध्यान रखे-जब तक कहा न जाए उसे बोलना नहीं चाहिए, मधुर भाषण करे, अभिव्यक्ति की भाषा अच्छी हो तथा शुभ बात की जाए। अच्छा हो कि उन्हें कुछ कहने या बताने का तरीका प्रीतिकर हो। रात को बहुत देर तक बाहर न रहे। रात को सोना जल्दी और सुबह उठना भी जल्दी हो।

पर्वतों में हिमालय को, गंगा जैसी नदियों को, बनारस (काशी) जैसी नगरी, शास्त्र जैसे वेद-पुराण-इन सबमें हम भारतीयों की आस्था है। हम उनकी पूजा करते हैं।

वैयक्तिक जीवन की उदात्तता ही भारतीय जीवन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सदाचार ही परम धर्म है (**'आचारः परमो धर्मः'**) इस बात का अधिक महत्त्व नहीं है कि व्यक्ति किस मत या किस विचारधारा में विश्वास रखता है, महत्त्व इस बात का है कि उसका आचरण कैसा है? धर्म-कर्म, वर्ग-जाति-प्रदेश, भाषा या राष्ट्र व्यक्ति की महत्ता को नहीं दर्शाते केवल उसके सदाचरण से ही उसकी महत्ता स्थापित होती है। अतः यद्यपि व्यक्ति पूर्व में बताए गए मूल्यों में से अधिकतर का पालन करता भी क्यों न हो, उसका वैयक्तिक चरित्र मनु द्वारा परिभाषित धर्म के अनुरूप होना चाहिए-

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।।

'उस पवित्र विधान (या धर्म) को जानो जिसका अनुसरण वेदविद् विद्वान् करते हैं तथा जो उन सज्जनों के हृदय द्वारा स्वीकृत है जो रागद्वेष से रहित हैं।'

मनु के अनुसार धर्म की परिभाषा निम्न प्रकार से है-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

'संतोष, क्षमा, आत्म-संयम, किसी की वस्तु पर अन्यायपूर्ण तरीके से अधिकार न करना, स्वच्छता के नियमों का पालन, इन्द्रियों को बलपूर्वक रोकना (विषयों की ओर जाने से), बुद्धिमत्ता, (अध्यात्म) विद्या, सत्य तथा क्रोधराहित्य ये दस धर्म के लक्षण है। इसी विषय को

आगे बढ़ाते हुए मनु कहते हैं-

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥

(मनुस्मृति 6.93)

'जो ब्राह्मण भली प्रकार से दस लक्षण वाले धर्म का अध्ययन करते हैं तथा अध्ययन करके उसका पालन करते हैं, वे परमगति को प्राप्त होते हैं।'

भगवान् कृष्ण ने इसी धर्म को बीस लक्षण बनाकर व्यापक बना दिया है जबकि भागवतपुराण ने इसे तीस लक्षण युक्त कर दिया है। एक व्यक्ति जो धर्म के अन्तर्गत (में समाहित) इन गुणों का स्वयं में विकास कर लेता है वह इन सांसारिक बुराइयों जैसे लोभ, क्रोध, वासना, ईर्ष्या, अहम् आदि से स्वयं को मुक्त कर लेता है। ऐसा व्यक्ति ही अपनी वास्तविक शक्ति तथा सामर्थ्य को पहचान पाता है।

जैसे धर्म का दायरा अपने से संबद्ध गुणों के बढ़ते जाने से विस्तृत होता जाता है उसी तरह वह घटते-घटते प्रथम चार में केन्द्रित हो जाता है। ये चार हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय और इन्द्रियनिग्रह। अन्तिम रूप में धर्म एक गुण में ही समाहित हो जाता है-

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'

'दूसरों के प्रति वैसा आचरण न करो जैसा तुम अपने लिए नहीं चाहते।'

आजकल 'लिंग-समानता' की चर्चा बहुत की जाती है। स्त्रियों को अनुचित रूप से अपमानित होना पड़ता है। यह इसीलिए है क्योंकि परस्त्रियों को माँ रूप में समझने का उदात्त मूल्य लोग भूल गए हैं या कहें उसे जीवन में उतारते नहीं-'**मातृवत् परदारेषु**'। परस्त्री के विषय में जो मूल्य हैं वैसे ही धन के विषय में भी हैं-'**परद्रव्येषु लोष्टवत्**' दूसरे के धन को मिट्टी का ढेला (समझिए)। इस सिद्धांत का पालन न कर लोग उसका बहुत दुरुपयोग करते हैं, उस पर अपना अधिकार जताते हैं।

इन मूल्यों के विकास से व्यक्ति शुद्ध-पवित्र होकर अपने भीतर की आवाज़ को सुनकर व्यवहार करते हुए निर्भयता की जिंदगी बिताने में समर्थ होता - '**अकुतोभय**', एक ऐसा जीवन जो उसे शान्ति और

सुकून दे सके।

भारतीय चिंतन, भारतीय विचारधारा पर एक आरोप बार-बार लगाया जाता है कि यह बहुत सीमा तक व्यक्ति-केन्द्रित है। कारण, कि यहाँ स्वयं अपने उत्कर्ष, शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक, की इच्छा बार-बार व्यक्त की जाती है। परन्तु यह मात्र एक भ्रम है जिसे दूर किया जाना चाहिए। भारतीय-जीवन की मूल्य व्यवस्था न केवल एक व्यक्ति तक ही सीमित है अपितु संपूर्ण मानव-जाति उसकी परिधि में है, संपूर्ण मानव ही क्यों संपूर्ण प्राणी भी उसकी परिधि में हैं। कहा जाता है **'सर्वभूतहिते रताः'**-अर्थात् सब जड़-चेतन के हित में रत रहना-सबके कल्याण की बात सोचना। भारतीयों की प्रार्थना है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

'सब सुखी रहें, सब रोगमुक्त रहें, सब जीवन के सुखों का भोग करें। किसी को दुःख न मिले।'

यह भारत में ही है कि धरती को माँ का स्थान दिया गया है। अथर्ववेद का ऋषि पृथिवीसूक्त में कहता है-

'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः'

अर्थात् भूमि माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। यह इस देश में ही है कि धरती पर पैर रखते समय उससे क्षमा मांगी जाती है। धरती माँ की स्तुति व सम्मान किया जाता है-

समुद्र-रशने देवि, पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादक्षेपं सहस्व मे॥

'हे विष्णु की पत्नी, देवी धरती, समुद्ररूपी रशना धारण करने वाली पर्वतरूपी स्थूल स्तनों वाली, मेरे पदक्षेप (पैर रखने) को सहन करो, क्षमा करो।'

इसी तरह की क्षमा उस वृक्ष से मांगी जाती है जिस पर घर के दरवाजे तथा खिड़कियाँ बनाने के लिए (लकड़ी की जरूरत के लिए) बढ़ई आरा चलाता है, उसे काट कर गिराता है-

यानीह भूतानि वसन्ति तानि
बलिं गृहीत्वा विधिवत् प्रयुक्तम्।
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्तु
क्षमन्तु ते चाद्य नमोऽस्तु तेभ्यः॥

'जिन प्राणियों ने भी इस पर आश्रय लिया हुआ है, वे सब विधिपूर्वक प्रदान की गई हवि को ग्रहण कर कहीं दूसरी जगह आश्रय ले लें। मुझे क्षमा करें, मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।'

आजकल पर्यावरणसंरक्षण की बहुत चर्चा की जाती है। इस संदर्भ में महाभारत में वर्णित एक आख्यान को उद्धृत करना अनावश्यक नहीं होगा। एक बार पृथिवी पर पृथुराजा सिंहासनासीन थे। पृथिवी ब्रह्मा के पास गई और शिकायत की कि राजा मुझे पीड़ित कर रहा है। बुलाए जाने पर पृथु ने ब्रह्मा को बताया कि 'मैं ऐसा इसलिए कर रहा हूं क्योंकि पृथिवी मेरी प्रजा के लिए पर्याप्त अन्न नहीं उपजा रही।' आत्मरक्षा में पृथिवी ने उत्तर में कहा कि यह इसलिए है क्योंकि प्रजा ने इतना शोषण, इतना दोहन किया है कि उसकी ऊपरी पर्त जर्जर हो गई है। परिणामस्वरूप उत्पादन घट गया है। तब ब्रह्मा ने धरती को गाय बन जाने को कहा तथा आदेश दिया कि प्रजा के पालन के लिए वह दूध प्रदान करती रहे। ऐसा कुछ समय तक चलता रहा फिर पृथु ब्रह्मा के पास गया और कहा कि प्रजा परेशान है क्योंकि उसे आश्रय चाहिए, रक्षास्थल चाहिए। ब्रह्मा ने सलाह दी कि लोक धरती को खोद सकते हैं परन्तु उन्हें ध्यान रखना होगा कि यह खुदाई हल्के-हल्के की जानी चाहिए जिससे कि पृथिवी को अधिक कष्ट न हो।

इस आख्यान से भारतीयों की भूक्षरण के प्रति चिंता रेखांकित होती है क्योंकि ऊपरी पर्त को कष्ट पहुँचाने का अर्थ भूक्षरण ही होता है।

पुराणों में भगवान् कृष्ण द्वारा 'कालियनाग' के वध की कथा से संकेत मिलता है कि भारतीय जन जलप्रदूषण के विषय में भी सचेत थे क्योंकि इस कथा के माध्यम से पता चलता है कि कालिय विष-विसर्जन द्वारा नदी के जल को दूषित कर रहा था। स्मृतिग्रन्थों में तो स्पष्ट आदेश है कि नदी के जल में न थूको, न उसके पास शौच करो। उच्छिष्ट

(जूठा भोजन) भी नदी-जल में कभी नहीं डालना चाहिए। अन्य कुछ भी नदी के जल में डालने के निषेध का अर्थ यही था कि जल शुद्ध एवं स्वास्थ्यप्रद रहे।

प्राचीन भारतीय लोग इस बात के लिए अत्यन्त सजग थे कि यदि उन्हें पर्यावरण की आवश्यकता है तो उसे भी प्राणियों की आवश्यकता है। महाभारत के एक श्लोक में यह बात स्पष्ट कही गई है-

निर्वनो वध्यते व्याघ्रो निर्व्याघ्रं छिद्यते वनम्

अर्थात् वनरहित प्रदेश से बाघ नष्ट हो जाते हैं तो बाघ के बिना वन नष्ट हो जाता है।

पर्यावरण के प्रति भारतीयों की संपूर्ण दृष्टि भक्ति, सम्मान, करुणा और कृतज्ञता की रही है। इसी दृष्टि के कारण वे पर्यावरण की समस्याओं को मैत्रीपूर्ण ढंग से सुलझाते रहे। उन्होंने धरती के पर्यावरण के हर कण-कण की शान्ति तथा सन्तुलन की इच्छा की है जैसा कि इस दिशा में की गई प्रचुर प्रार्थनाओं से स्पष्ट है। यजुर्वेद की बहुधा दोहराई गई निम्न प्रार्थना, पृथिवी, अन्तरिक्ष, जल, वनस्पतियों, वृक्षों आदि में शान्ति की कामना करती है-

द्यौः शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः

जीवनमूल्यों के प्रति इसी सम्मान के कारण भारतीय समाज हर परिस्थिति में स्वयं को संभालता रहा है। भारत देश की आम पहचान भी इन्हीं मूल्यों के कारण है। इन मूल्यों में से कुछ तो सनातन है तो कुछ भारतीयों ने स्वयं विकसित किए हैं जो भारतीय स्वभाव, भारतीय लोकाचार को दर्शाते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि वर्तमान में इन मूल्यों के प्रति सम्मान कम होता जा रहा है।

आज के समाज में जो विसंगतियाँ घर कर गई हैं उनके कारण भारतीय समाज की आभा खोई है तथा गरिमा नष्ट हुई है। आवश्यकता है इस बात की कि जीवन के इन मूल्यों के महत्त्व को रेखांकित करते हुए समाज को पुनः प्रेरित-प्रोत्साहित किया जाए। वर्तमान पुस्तक इसी लक्ष्य को समर्पित है।